समन्तभद्र-विचार-दीपिका

प्रथम भाग

विचारके विषय

१ स्व-पर-वैरी कौन ?

२ वीतरागकी पूजा क्यों ?

३ वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

४ पाप-पुण्यकी व्यवस्था कैसे ?

जुगलकिशोर मुख्तार

सन्मति-विद्या-प्रकाशमाला　　　　द्वितीय प्रकाश

तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण

समन्तभद्र-विचार-दीपिका

प्रथम भाग।

लेखक

जुगलकिशोर मुख़्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'

सरसावा जि० सहारनपुर

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

दरिया गंज, देहली

प्रथमावृत्ति } आश्विन, वीरसंवत् २४८० / अक्तूबर १९५४ { तीन आने

मूल्य—प्रचारके लिये १४) रु० प्रतिशत

प्रकाशकके दो शब्द

श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार सरसावा (सहारनपुर) ने अपनी दिवंगता दोनों पुत्रियों सन्मती और विद्यावती की स्मृतिमें एक हजारकी रकम 'सन्मति-विद्या-निधि' के रूपमें कुछ वर्ष हुए वीर-सेवा-मन्दिरको सत्साहित्यके प्रकाशनार्थ सुपुर्द की थी। उसी निधि से 'सन्मति-विद्या-प्रकाशमाला' चालू की गई, जिसका लक्ष्य है 'सन्मति' जिनेन्द्रकी विद्याको—भगवान महावीरके तत्त्वज्ञान और सदाचारको—सहज-बोधगम्य-रीतिसे प्रकाशमें लाना। इस प्रकाशमालामें अब तक १ अनेकान्त-रस-लहरी, २ श्रीबाहुबलि-जिनपूजा, ३ सेवाधर्म और ४ परिग्रहका प्रायश्चित्त नामकी चार पुस्तकें क्रमशः प्रथम, तृतीय, चतुर्थ और पंचम प्रकाशके रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं, द्वितीय प्रकाशका स्थान रिक्त था जिसकी पूर्ति 'समन्तभद्र-विचार-दीपिका' के इस प्रथम भाग-द्वारा की-जा-रही है। इस पुस्तकके और भी भाग यथासमय निकाले जायँगे। दूसरी शताब्दीके अद्वितीय विद्वान स्वामी समन्तभद्र एक बहुत बड़े तत्त्ववेत्ता आचार्य हो गये हैं जो अपने समयमें वीर-शासनकी हजार गुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं, ऐसा एक पुरातन शिलालेखमें उल्लेख है। लोकहितकी दृष्टिसे उनके विचारोंको प्रचारमें लाकर विश्वमें फैलानेकी इस समय बड़ी ज़रूरत है। इसी दृष्टिको लेकर यह पुस्तक लिखी गई, प्रकाशित की गई और प्रचारकोंके लिए मूल्य भी कम १४) रु० सैंकड़ा रक्खा गया है। आशा है समन्तभद्रके विचारों एवं तत्त्व-ज्ञानके प्रेमी इस पुस्तकके प्रचार और प्रसारमें यथेष्ट हाथ बटाएँगे और उससे दूसरे भागोंको भी शीघ्र प्रकाशमें लानेका अवसर प्राप्त होगा।



समन्तभद्र-विचार-दीपिका

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं
सद्बोध-चारुचरिता-ऽनघवाक्-स्वरूपम् ।
तच्छास्त्र-वाक्य-गत-भद्रविचार-मालां
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेकवृद्ध्यै ॥१॥

प्रास्ताविक

उक्त मंगलपद्यके साथ जिस विचार-दीपिकाका प्रारम्भ किया जाता है वह उन स्वामी समन्तभद्रके विचारोंकी—उन्हींके शास्त्रों परसे लिये गये उनके सिद्धान्तसूत्रों, सूक्तों अथवा अभिमतोंकी—व्याख्या होगी, जो सद्बोधकी मूर्ति थे—जिनके अन्तःकरणमें देदीप्यमान किरणोंके साथ निर्मल ज्ञान-सूर्य स्फुरायमान था—सुन्दर सदाचार अथवा सच्चारित्र ही जिनका एक भूषण था, और जिनका वचनकलाप सदा ही निष्पाप तथा बाधारहित था, और इसीलिये जो लोकमें श्रीवर्द्धमान थे—बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारकी लक्ष्मीसे-शोभासे वृद्धिको प्राप्त थे—और आज भी जिनके वचनोंका सिक्का बड़े बड़े विद्वानोंके हृदयोंपर अंकित है *।

* स्वामी समन्तभद्रका विशेष परिचय पानेके लिये देखो, लेखकका लिखा हुआ 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास तथा 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' के अन्तर्गत 'स्वामि-समन्तभद्र-स्मरण' ।

वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रकी जो कुछ भी वचन-प्रवृत्ति होती थी वह सब लोककी हितकामना—लोकमे विवेककी जागृति, शान्तिकी स्थापना और सुख-वृद्धिकी शुभभावनाको लिये हुए होती थी। यह व्याख्या भी उसी उद्देश्यको लेकर—लोकमे हित की, विवेककी और सुख-शान्तिकी एकमात्र वृद्धिके लिये—लिखी जाती है। अथवा यो कहिये कि जगतका स्वामीजीके विचारोका परिचय कराने और उनसे यथेष्ट लाभ उठानेका अवसर देनेके लिये ही यह सब कुछ प्रयत्न किया जाता है। मै इस प्रयत्नमें कहाँतक सफल हो सकूँगा, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। स्वामीजीका पवित्र ध्यान, चिन्तन और आराधन ही मेरे लिये एक आधार होगा—प्राय. वे ही इस विषयमे मेरे मुख्य सहायक-मददगार अथवा पथप्रदर्शक होंगे।

यह मै जानता हूँ कि भगवान समन्तभद्रस्वामीके वचनोका पूरा रहस्य समझने और उनके विचारोका पूरा माहात्म्य प्रकट करनेके लिये व्यक्तित्वरूपसे मै असमर्थ हूँ, फिर भी "अशेष माहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय सस्पर्शमिवाऽमृताम्बुधे"— 'अमृत समुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी उसका संस्पर्श कल्याणकारक होता है' स्वामीजीकी इस सूक्तिके अनुसार ही मैने यह सब प्रयत्न किया है। आशा है दीपिका-रूपमें मेरी यह व्याख्या आचार्य महोदयके विचारो और उनके वचनोके पूरे माहात्म्यको प्रकट न करती हुई भी लोकके लिये कल्याणरूप होगी और इसे स्वामीजीके विचाररूप-अमृतसमुद्रका केवल संस्पर्श ही समझा जायगा।



१

स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व-पर-वैरी—अपना और दूसरोंका शत्रु—कौन ? इस प्रश्नका उत्तर संसारमें अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है। उदाहरणके लिये—

१. स्वपरवैरी वह है जो अपने बालकोंको शिक्षा नहीं देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनकी खराबीसे उसको भी दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पड़ता है और सत्संततिके लाभोंसे भी वंचित रहना होता है।

२. स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोंकी छोटी उम्रमें शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षामें बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन—उत्साहविहीन बने रहते हैं अथवा अकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं। और उनकी इन अवस्थाओंमें उसको भी बराबर दुःख-कष्ट भोगना पड़ता है।

३. स्वपरवैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होने पर भी प्रमादादिके वशीभूत हुआ रोजगार-धंधा छोड़ बैठता है—कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीको भुलाकर आजीविकाके लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करता, और इस तरह अपनेको चिन्ताओंमें डालकर दुःखित रखता है और अपने आश्रितजनों—बालबच्चों आदिको भी, उनकी आवश्यकताएँ पूरी न करके, संकटमें डालता तथा कष्ट पहुँचाता है।

४ स्वपरवैरी वह है जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि दुःकर्म करता है, क्योंकि ऐसे आचरणोंके द्वारा वह दूसरोंको ही कष्ट तथा हानि नहीं पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है

और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखदाई अशुभ फल उसे इसी जन्म अथवा अगले जन्ममें भोगना पड़ता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्वामी समन्तभद्र इस प्रश्न पर एक दूसरे ही ढंगसे विचार करते हैं और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमें दूसरे सब विचार समा जाते हैं। आपकी दृष्टिमें वे सभी जन स्व-पर-वैरी हैं जो 'एकान्तग्रहरक्त' हैं (एकान्तग्रहरक्ताः स्वपरवैरिणः)। अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमें आसक्त हैं—सर्वथा एकान्त-पक्षके पक्षपाती अथवा उपासक हैं—और अनेकान्तको नहीं मानते—वस्तुमें अनेक गुण-धर्मोंके होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्मरूप अंगीकार करते हैं वे अपने और परके वैरी हैं। आपका यह विचार देवागमकी निम्नकारिकाके 'एकान्तग्रहरक्तेषु' 'स्वपर-वैरिषु' इन दो पदों परसे उपलब्ध होता है :-

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ ! स्व-पर-वैरिषु ॥ ८ ॥

इस कारिकामें इतना और भी बतलाया गया है कि ऐसे एकान्त मान्यतावाले व्यक्तियोंमेंसे किसीके यहाँ भी—किसीके भी मतमें—शुभ-अशुभ-कर्मकी, अन्य जन्मकी और 'चकार' से इस जन्मकी, कर्मफलकी तथा बन्ध-मोक्षादिककी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। और यह सब इस कारिकाका सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थकी दृष्टिसे इसमें सांकेतिकरूपसे यह भी सन्निहित है कि ऐसे एकान्त-पक्षपातीजन स्वपरवैरी कैसे हैं और क्योंकर उनके शुभाऽशुभकर्मों, लोक-परलोक तथा बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इस अर्थको अष्टसहस्री-जैसे टीका-ग्रन्थोंमें कुछ विस्तारके साथ खोला गया है। बाकी एकान्तवादियोंकी मुख्य मुख्य कोटियोंका वर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तोंको दूषित

ठहरा कर उन्हे स्व-पर-वैरी सिद्ध करने और अनेकान्तको स्व-पर-हितकारी सम्यक् सिद्धान्तके रूपमे प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थकी अगली कारिकाओमे सूत्ररूपसे किया है। ग्रन्थकी कुल कारिकाएँ (श्लोक) ११४ है, जिनपर आचार्य श्रीअकलंकदेवने 'अष्टशती' नामकी आठसौ श्लोक-जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही गूढ़ सूत्रोमे है, और फिर इस वृत्तिको साथ मे लेकर श्रीविद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हजार श्लोक-परिमाण है और जिसमे मूलग्रन्थके आशयको खोलनेका भारी प्रयत्न किया गया है। यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोको समझनेके लिये इसपर आठ हजार श्लोक-जितना एक संस्कृत टिप्पण भी बना हुआ है; फिर भी अपने विषयको पूरी तौरसे समझनेके लिये यह अभीतक 'कष्ट-सहस्री' ही बनी हुई है। और शायद यही वजह है कि इसका अब तक हिन्दी अनुवाद नहीं हो सका। ऐसी हालतमे पाठक समझ सकते है कि स्वामी समन्तभद्रका मूल 'देवागम' ग्रन्थ कितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुए है। अकलकदेवने तो उसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्त्वोको अपना विषय करनेवाला स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थ' लिखा है। इस लिये मेरे जैसे अल्पज्ञों-द्वारा समन्तभद्रके विचारोकी व्याख्या उनको स्पर्श करनेके सिवाय और क्या हो सकती है? इसीसे मेरा यह प्रयत्न भी साधारण पाठकोके लिये है—विशेषज्ञोके लिये नही। अस्तु, इस प्रासगिक निवेदनके बाद अब मै पुन: प्रकृत विषय पर आता हूँ और उसको सक्षेपमे ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

वास्तवमे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमे अनेक अन्त-धर्म, गुण-स्वभाव अग अथवा अंश है। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्द्रष्टा (उसे

ठीक तौरसे देखने-पहिचाननेवाला) नहीं कहला सकता । सम्यग्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तों, अंगों-धर्मों अथवा स्वभावों पर नजर डालनी चाहिये । सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पड़ा देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इस लिये धोखा खाता है । इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है ❀ ।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अंग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्त धारणा बना लेता है और उसे ही जैसे तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकान्तपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं । ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध पुरुषोंकी तरह आपसमें लड़ते झगड़ते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषयमें अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकने वाले उन जन्मान्धोंकी तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुसे उस वस्तु का ठीक काम लेनेमें समर्थ नहीं हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करनेपर स्वसिद्धान्त-

❀ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

विरोधी ठहरते है; इस तरह दोनो ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते है। नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगीपर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाता है।' साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचले के खानेसे अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्टपुष्ट होगया। इस परसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढाकर मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट बनाता है'। उसे मालूम नहीं कि कुचलेमे मारनेका—जीवन को नष्ट कर देनेका—भी गुण है, और उसका प्रयोग सब रोगों तथा सब अवस्थाओमे समानरूपसे नहीं किया जा सकता न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारकगुणसे परिचित था, और इस लिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढानेके काममे लाता था तब वह दूसरी दवाइयोंके साथमे उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीवजन्तुओंके घातके काममे लेता था जो रोगीके शरीरमे जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हो। और इस लिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त धारणाके अनुसार अनेक रोगियोको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमे अधिक मात्रामे भी दे देता है। नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते है या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते है और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दण्ड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राणहानि भी कर डालता है। इस तरह कुचलेके विषयमे एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार स्व-पर-वैरी होता है उसी

प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमें भी एकान्त हठ पकड़ने वालोंको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं, क्योंकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नहीं कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नहीं बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नहीं बनता। सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव नहीं बनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते हैं। उदाहरणके तौरपर अनामिका अंगुली छोटी भी है और बड़ी भी—कनिष्ठासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामें छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नहीं है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपसे पाये जाते हैं। अपेक्षाको छोड़ देनेपर दोनोंमेंसे कोई भी धर्म नहीं बनता। उसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनों धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते हैं।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते हैं। और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नहीं होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व-पर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते हैं और न दूसरेकी। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें भी—

"मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः"
"परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः"

इन वाक्योंके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्षनयोंको मिथ्या और सापेक्षनयोंको सम्यक् बतलाते है। आपके विचारसे निरपेक्षनयोंका विषय अर्थक्रियाकारी न होने से अवस्तु है और सापेक्षनयोका विषय अर्थकृत् (प्रयोजनसाधक) होनेसे वस्तुतत्त्व है *। इस विषयकी विशेष चर्चा एवं व्याख्या इसी विचारदीपिकामें अन्यत्र की जायगी। यहाँपर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिये कि निरपेक्षनयोका विषय 'मिथ्या एकान्त' और सापेक्षनयोंका विषय 'सम्यक् एकान्त' है। और यह सम्यक् एकान्त ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते है उन्हे ही 'एकान्त-ग्रहरक्त' कहा गया है, वे ही 'सर्वथा एकान्तवादी' कहलाते हैं और उन्हे ही यहाँ 'स्वपरवैरी' समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते है उन्हे 'एकान्तग्रहरक्त' नहीं कहते, उनका नेता 'स्यात्' पद होता है, वे उस एकान्तको कथंचित् रूपसे स्वीकार करते है, इसलिये उसमे सर्वथा आसक्त नहीं होते और न प्रतिपक्ष धर्मका विरोध अथवा निराकरण ही करते है—सापेक्षावस्थामें विचारके समय प्रतिपक्ष धर्मकी उपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नहीं होता। और इसीसे वे 'स्व-पर-वैरी' नहीं कहे जा सकते। अत स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'जो एकान्तग्रहरक्त होते है वे स्वपरवैरी होते है।'

अब देखना यह है कि ऐसे स्वपरवैरी एकान्तवादियोंके मतमें शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल, सुख-दुःख जन्म-जन्मान्तर (लोक-

* निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत ॥ १०८ ॥ —देवागम

परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती। बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब अवस्थाएँ चूँकि अनेकान्ताश्रित है—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ने वाली सापेक्ष अवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती—, इसलिये जो अनेकान्तके वैरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाएँ सुघटित नहीं हो सकतीं। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है, क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नहीं तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमें शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है, क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुःख, फल-भोगका क्षेत्र जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बंधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित हो जाते हैं, और इसलिये सर्वथा नित्यादि एकान्तवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती। वे यदि इन्हें मानते हैं और तपश्चरणादिक अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोंका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस इष्टको अनेकान्तका विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते हैं।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव-अभाव नित्य-अनित्य भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—बिना अनेकान्तका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नहीं, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये अनेकान्तको परमागमका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोंके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है *। जैनी नीतिका भी यही मूलाधार है। जो लोग अनेकान्तका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नहीं होते, उनसे पाप नहीं बनते, उन्हें आपदाएँ नहीं सताती, और वे लोकमें सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं।

२

वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजासे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करनेवालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमें उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजासे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नतामें कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो, परन्तु वीतरागदेवके विषय में यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसीपर प्रसन्न होते हैं, न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्तिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर

* नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः॥

हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं—उनकी प्रसन्नतामें किसी भी कारणसे कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजासे वीतरागदेवकी प्रसन्नता या अप्रसन्नताका कोई सम्बन्ध नहीं—वह उसकेद्वारा सम्भाव्य ही नहीं—तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्योंसे की जाय, किन मन्त्रोंसे की जाय और उसे कौन करे—कौन न करे? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधिसे पूजा करनेपर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा, अथवा किसी अधर्म-अशोभन-अपावन मनुष्यके पूजा कर लेनेपर वह देव नाराज हो जायगा और उसकी नाराजगीसे उस मनुष्य तथा मन्दिरके समाजको किसी दैवी कोपका भाजन बनना पड़ेगा, क्योंकि ऐसी शंका करनेपर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा—उसके वीतराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओंकी तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा। इसीसे अक्सर लोग जैनियोंसे कहा करते हैं कि—"जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासनाकी कोई जरूरत नहीं, कर्ता-हर्ता न होनेसे वह किसीको कुछ देता-लेता भी नहीं, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है?"

इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवोंको सबसे अधिक पूजाके योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदिके द्वारा उनकी पूजामें सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

अर्थात्—हे भगवन् पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागका अंश भी आपके

आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दना में आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आसकता, क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव-द्वेषांश बिलकुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है, परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वन्दनादि आपके लिये नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोंसे छुडाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। इसीसे पद्यके उत्तरार्धमें यह सैद्धान्तिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करता है—उसके विकासमें सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग भगवानके पुण्य-गुणोंके स्मरणसे पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तोंका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपसे सन्निहित है। इस विषयमें मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोंमें किया है—स्वयम्भूस्तोत्रकी प्रस्तावनाके 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि

रहस्य' नामक प्रकरणसे भी पाठक उसे जान सकते है। यहॉपर मै सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवके जिन पुण्य-गुणोके स्मरणकी बात कही है वे अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण है, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओंके समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति है और सभी भव्यजीव उन्हे प्राप्त कर सकते है। जिन पापमलोंने उन गुणोंको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म है, योगबलसे जिन महात्माओंने उन कर्ममलोंको दग्ध करके आत्मगुणोका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते है—शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओंमे है और वे अपनी आत्मनिधिको प्राय. भूले हुए है। सिद्धात्माओंके विकसित गुणोपरसे वे आत्मगुणोका परिचय प्राप्त करते है और फिर उनमे अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनो-द्वारा उन गुणोंकी प्राप्ति का यत्न करते है जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओने किया था। और इसलिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक संसारी आत्माओंके लिये 'आदर्शरूप' होते है, आत्मगुणोंके परिचयादिमें सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते है और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते है जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे विकसित न हो जायं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "तत स्वनि श्रेयसभावना-परैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठो तकके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने नि.श्रेयसकी—आत्मविकासकी—भावनामे सदा सावधान रहते है। और एक दूसरे पद्य 'स्तुति स्तातु साधो:' (स्व० ११६) मे वीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिको कुशलपरिणामो की हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, उसी स्तोत्रगत नीचेके एक पद्यमें

वे योगबलसे आठो पापमलोंको दूरकरके संसारमे न पाये जाने वाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओ का स्मरण करते हुए अपने लिये तद्रूप होने की स्पष्ट भावना भी करते है, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है —

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोंसे यह भले प्रकार स्पष्ट होजाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है ।

— ० —

३

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

वीतरागकी पूजाके प्रतिष्ठित होजाने पर अब यह प्रश्न पैदा होता है कि जब वीतराग अर्हन्तदेव परम उदासीन एवं कृतकृत्य होनेसे कुछ करते-धरते नहीं तब पूजा-उपासनादिके अवसरोंपर उनसे बहुधा प्रार्थनाएँ क्यो कीजाती है और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषयका आरोप किया जाता है ?—जिसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने भी अपनाया है । यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर वांछनीय एवं जाननेके योग्य है । अतः इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है ।

सबसे पहली बात इस विषयमे यह जान लेनेकी है कि इच्छा-पूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला ही उसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्यका करनेवाला भी कर्ता होता है । वह भी कार्यका कर्ता होता है

जिसमे इच्छा-बुद्धिका प्रयोग ही नहीं वल्कि सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका संभव भी नहीं है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिविहीन कर्ता कार्योके प्राय. निमित्तकारण ही होते है और प्रत्यक्षरूपमे तथा अप्रत्यक्षरूपमे उनके कर्ता जड और चेतन दोनो ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है, उन पर ज़रा ध्यान दीजिये'—

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरने वाली है।' यहाँ दवाईमे कोई इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली है—रोगहरण कार्यकी कर्ता कही जाती है; क्योंकि उसके निमित्त-से रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे निरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहाँ 'रसायन' जड़ औषधियोका समूह होनेसे एक जड पदार्थ है, उसमे न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता; फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमे प्रसन्नता-का आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलकारकी भाषामे कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाई ने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छापूर्वक उसके शरीरमे कोई काम नही किया। हॉ उसके निमित्तसे शरीर-मे रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इस-लिये वह उसका कार्य कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीके सामनेसे आ रहा था। सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्रीपर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आगई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकानपर भूल आया हूँ; चुनाँचे वह तुरन्त वहाँ गया और अपनी छत्री ले

आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ, इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है।' यहाँ छत्री एक जडवस्तु है, उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है फिर भी चूंकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृतिआदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलंकृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उस पर आसक्त होगया, तरह-तरह की कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया ! मुझे पागल बना दिया ! अब मैं बेकार हूं और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-धरते नहीं बनता।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कुछ भी खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धिपूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कहीं जाते हुए उसे देख लिया है, फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्य के आत्म-दोषोंको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मत्थे मढ़ रहा है, जब कि वह उसमें अज्ञानभावसे एक छोटासा निमित्त-कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(५) एक दुःखित और पीड़ित गरीब मनुष्य एक सन्तके आश्रयमें चला गया और बड़े भक्ति-भावके साथ उस सन्तकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। वह सन्त संसार-देह-भोगोंसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नहीं—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दंग रह गये ! अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ

उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्ति-भाव और भी दिन पर दिन बढ़ने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमें गिड़गिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक है, आप ही मेरे अन्नदाता है, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है। आपके चरण-शरणमें आनेसे ही मै सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये है और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मै अपने-को और जगत्को भले प्रकार देख सकता हूँ। अब दयाकर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मै जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ।' यहाँ भक्त-द्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नहीं किया। उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे संकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई ग्रास ही उठाकर उसे दिया है; फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था होगई। दूसरे भक्त जन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादिकी सुव्य-वस्था करनेमें प्रवृत्त होगये और वैसा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया; फिर भी वह भक्त उस सन्तकी दिन-चर्या और अवाग्विसर्ग (मौनोपदेशरूप) मुख-मुद्रादिक परसे स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त होगया। परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमें उस सन्त पुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्त कारण रहा है—भले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो। इसीसे भक्त-द्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुष-

को ही दिया गया है ।

इन सब उदाहरणों परसे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाजिमी (अनिवार्य) अथवा ज़रूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हों, वह उसके बिना भी हो सकता है और होता है । साथ ही, यह भी स्पष्ट होजाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देने की प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है; जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त होजाती है । ऐसी स्थितिमें परमवीतराग श्रीअर्हन्तादिदेवोंमें कर्तृत्वादि-विषयका आरोप व्यर्थ नहीं कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा किसीका कोई कार्य न करते हों, मोहनीय कर्मके अभावमें उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो, क्योंकि उनके पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन, स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है—तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय?* सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते है, भक्तजनोंकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं और इसलिये उन्हें यही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन ! आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध होगया ।', जैसे कि रसायन के प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है । रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करने वालेपर प्रसन्न नहीं होती और

* "पुण्यप्रभावात् किं किं न भवति"—'पुण्यके प्रभावसे क्या-क्या नहीं होता' ऐसी लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है ।

न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवक पर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते है। प्रसन्नतापूर्वक सेवन-आराधनके कारण ही दोनोंमे—रसायन और वीतरागदेवमे—प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलंकृत भाषाका कथन है। अन्यथा दोनोंका कार्य वस्तुस्वभावके वशवर्ती, संयोगोकी अनुकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमें किसीकी इच्छा अथवा प्रसन्नतादिकी कोई बात नहीं है।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि, ससारी जीव मनसे, वचनसे व कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्मामे कम्पन (हलन-चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते है। मन-वचन-कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभ कर्मका आस्रव होता है। तदनुसार ही बन्ध होता है। इस तरह कर्म शुभ-अशुभके भेदसे दो भागोंमे बँटा रहता है। शुभ कार्य करनेकी जिसमे प्रकृति (स्वभाव-शीलता) होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते है। शुभाऽशुभ भावोंकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मन्दतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियोंमे बराबर परिवर्तन (उलटफेर) अथवा सक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हींके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतरागदेवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेम पूर्वक स्मरण एव चिन्तन करने और उनमे अनुराग बढ़ानेसे शुभ भावो (कुशलपरिणामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्य-

की पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पापप्रकृतियो का रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोंमे रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति-बल) मे विघ्नरूप रहा करती है—उन्हे होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध होजाते है, बिगडे हुए काम भी सुधर जाते हैं और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादिको इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमें उद्धृत एक आचार्य महोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट फलको देनेवाले है और वीतरागदेवमे कर्तृत्व-विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है, बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार संगत और सुघटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर है और इसलिये उनके विषयमे अकर्तापनका सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नहीं होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असगत नहीं कहा जा सकता जो उनके सम्पर्क तथा शरणमे आनेसे स्वयं सफल होजाती है अथवा उपासना एवं भक्ति के द्वारा सहज-साध्य होती है।

इस विषयमें स्वामी समन्तभद्रका स्वयँभूस्तोत्रगत निम्न वाक्य ख़ास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है—

स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

इसमे बतलाया है कि वे 'भगवान् शान्तिजिन मेरे शरण्य है—मै उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होने अपने दोषोकी—अज्ञान, मोह तथा राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंकी शान्ति करके आत्मामे परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुख-स्वरूप स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता है —उनमे अपने आत्मप्रभावसे दोषोकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हे शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमे सहायक एव निमित्तभूत है । अत (इस शरणागतिके फलस्वरूप) शान्ति-जिन मेरे ससार-परिभ्रमणका अन्त और सासारिक क्लेशों तथा भयोकी समाप्तिमे कारणभूत होवे ।'

यहाँ शान्ति-जिनको शरणागतोंकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये उनमे किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्न-के आरोप की जरूरत नहीं है, वह कार्य उनके 'विहितात्मशान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार होजाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वय हुआ करता है और उसमे उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नहीं पड़ता । इच्छा तो स्वय एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वय स्वामीजीने उक्त स्तोत्रमे "अनन्तदोषाशयविग्रह" (६६) बतलाया है । दोषोकी शान्ति

होजानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता। और इसलिये अर्हन्त-देवमे बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमे रखकर उन्हे 'शान्तिके विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। और इस तरह कर्तृत्व-विषयमे अनेकान्त चलता है—सर्वथा एकान्तपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहाँ प्रसगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमे सांसारिक क्लेशो तथा भयोकी शान्तिमें कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना कीगई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामें प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामे पाया जाता है—

दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहि-लाहो य।
मम होउ तिजगबंधव ! तव जिणवर चरण-सरणेण॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—'हे त्रिजगतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोका क्षय, कर्मोका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और सम्यग्दर्शनादिकका लाभ होवे। इससे यह प्रार्थना एक प्रकार से आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणों का आराधन करनेसे—दु.खोका क्षय और कर्मोका क्षयादिक सुख-साध्य होता है। यही भाव समन्तभद्रकी उक्त प्रार्थनाका है। इसी भावको लेकर "मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ!" (२७) "भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये" (११५) जैसी दूसरी भी अनेक प्रार्थनाएँ कीगई है। परन्तु ये ही प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षात् रूपमे कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती है तो वे अलकृत रूपको धारण किये हुए होती है। इस अलंकृत रूप-

धारिणी प्रार्थनाओंके स्वयम्भूस्तोत्रगत कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)
२. जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३. ममार्य ! देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४. पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५. श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने, जिनश्री तथा शिव-सन्ततिको देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई है, इनमें असंगतता तथा असंभाव्य जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेन्द्र-देवके सम्पर्क प्रभाव तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहज-साध्य है—और इसलिये अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही है।

वास्तवमें परमवीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देवके समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अथवा यों कहिये कि अलंकारकी भाषामें मनःकामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रहकर और उससे कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि वीतराग-देव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादिको काममें लाते हुए स्वय उसका कोई काम कर देंगे, अथवा दूसरोंसे प्रेरणादिके द्वारा करा देंगे। ऐसा आशय असंभाव्यको संभाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।



४

पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ?

पुण्य-पापका उपार्जन कैसे होता है—कैसे किसीको पुण्य लगता, पाप चढ़ता अथवा पाप-पुण्यका उसके साथ सम्बन्ध होता है, यह एक भारी समस्या है, जिसको हल करनेका बहुतोंने प्रयत्न किया है। अधिकांश विचारकजन इस निश्चय पर पहुँचे है और उनकी यह एकान्त धारणा है कि -'दूसरोंको दुख देने, दुख पहुँचाने, दुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह दुखका कारण बननेसे नियमत पाप होता है—पापका आस्रव-बन्ध होता है; प्रत्युत इसके दूसरोंको सुख देने, सुख पहुँचाने, सुख के साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह सुखका कारण बननेसे नियमतः पुण्य होता है—पुण्यका आस्रव-बन्ध होता है। अपनेको दुख-सुख देने आदिसे पाप-पुण्यके बन्धका कोई सम्बन्ध नही है।'

दूसरोका इस विषयमे यह निश्चय और यह एकान्त धारणा है कि—'अपनेको दुख देने-पहुँचाने आदिमे नियमत. पुण्योपार्जन और सुख देने आदिसे नियमत पापोपार्जन होता है—दूसरो के दुख-सुखका पुण्य-पापके बन्धसे कोई सम्बन्ध नही है।'

स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमे ये दोनो ही विचार एवं पक्ष निरे ऐकान्तिक होनेसे वस्तुतत्त्व नहीं है, और इसलिये उन्होने इन दोनोको सदोष ठहराते हुए पुण्य-पापकी जो व्यवस्था सूत्ररूपसे अपने 'देवागम' मे (कारिका ९२ से ९५ तक) दी है वह बड़ी ही मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण है। आज इस विचारदीपिकामें वह सब ही पाठकोके सामने रक्खी जाती है।

प्रथम पक्षको सदोष ठहराते हुए स्वामीजी लिखते है :—

पापं ध्रुवं परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ९२ ॥

'यदि परमे दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका होना निश्चित है—ऐसा एकान्त माना जाय—तो फिर अचेतन पदार्थ और अकषायी (वीतरागी) जीव भी पुण्य-पापसे बधने चाहिये; क्योंकि वे भी दूसरोमे सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते है।'

भावार्थ—जब परमे सुख-दुखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते है, पुण्य-पापके बन्धकर्ता क्यो नही? परन्तु उन्हे कोई भी पुण्य-पापके बन्धकर्ता नहीं मानता—कॉटा पैरमे चुभकर दूसरेको दुख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप-फलदायक कर्मपरमाणु ही उसमे आकर चिपटते अथवा बन्धको प्राप्त होते है। इसी तरह दूध-मलाई बहुतोको आनन्द प्रदान करते है, परन्तु उनके इस आनन्दसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमे पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओका ऐसा कोई प्रवेश अथवा सयोग ही होता है जिसका फल उन्हे (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े। इसमे उक्त एकान्त सिद्धान्त स्पष्ट सदोष जान पड़ता है।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बन्धके योग्य होते है अचेतन नहीं, तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोके विषयमे आपत्तिको कैसे टाला जायगा? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोके दुख-सुखके कारण बनते है। उदाहरणके तौर पर किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते है तो उसके अनेक सम्बन्धियोको दुख पहुँचता है। शिष्यों

तथा जनताको शिक्षा देते है तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मरजाता है। कायोत्सर्ग-पूर्वक ध्यानावस्थामे स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेज़ीसे उड़ा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमे बाधक होनेसे वे उसके दुखके कारण बनते है। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन निरोग होजाते है और यथेष्ट सुखका अनुभव करते है। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार है जिनमे वे दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते है। यदि दूसरोके सुख-दुख-का निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामे पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमे वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते है ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमे पड़ते है तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है— "कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।" "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध।" और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमे कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्ष के अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमे अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते है—एकके विना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता, यह बात प्रथम लेखमे भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके

बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अतः चेतन प्राणियोंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय जीवोंके दूसरों को सुख-दुख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुखकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते, तो फिर दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है ?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा, प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिमें पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी होसकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोड़ेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचाता है, इस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टरको पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःखविरोधनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचाने के अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारने वालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्ष वालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

अब दूसरे पक्षको दूषित ठहराते हुए आचार्य महोदय लिखते है—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।

वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

'यदि अपनेमे दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव हे—निश्चितरूपसे होता है ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहिये, क्योंकि ये भी अपने सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्तकारण होते है ।'

भावार्थ—वीतराग और विद्वान मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशादिरूप दु.खकी और तत्त्वज्ञानजन्य संतोपलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है । जब अपनेमे दुख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते है? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नही मिल सकता, और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनो बन्धोके अभावके बिना मुक्ति होती ही नहीं । और मुक्तिके बिना बन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नही रह सकती, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है । यदि पुण्य-पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो ससृतिके—ससार अथवा सांसारिक जीवनके—अभावका प्रसंग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेसे किसीको भी इष्ट नहीं है । ऐसी हालतमे आत्म-सुख-दुखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त सिद्धान्त भी सदोष है ।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमे दुख-सुखकी उत्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इस लिये

नहीं होता कि उनके दुख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमे आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दुख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नहीं है।

अत: उक्त दोनो एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित है, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते है, और इसलिये ठीक नही कहे जा सकते।

इन आपत्तियोसे बचने आदिके कारण जो लोग दोनो एकान्तोको अंगीकार करते है, परन्तु स्याद्वादके सिद्धान्तको नहीं मानते—अपेक्षा-अनपेक्षाको स्वीकार नहीं करते—अथवा अवाच्यतैकान्तका अवलम्बन लेकर पुण्य-पापकी व्यवस्थाको 'अवक्तव्य' बतलाते है उनकी मान्यता मे—

"विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥"

इस कारिका (नं० ९४) के द्वारा विरोधादि दूषण देनेके अनन्तर, स्वामी समन्तभद्रने स्व-परस्थ सुख-दुःखादिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी जो सम्यक् व्यवस्था अर्हन्मतानुसार बतलाई है उसकी प्रतिपादक-कारिका इस प्रकार है :—

विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत् स्व-परस्थं सुखाऽसुखम्।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेद् व्यर्थस्तवाऽर्हतः ॥९५॥

इसमें बतलाया है कि—'अर्हन्तके मतमें सुख-दुख आत्मस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—वह यदि विशुद्धिका अंग है तो उस पुण्यास्रवका, संक्लेशका अंग है तो उस पापास्रवका हेतु है, जो युक्त है—सार्थक अथवा बन्धकर है—और यदि

विशुद्धि तथा संक्लेश दोनोंमेंसे किसीका अंग नहीं है तो पुण्य-पापमेंसे किसीके भी युक्त आस्रवका—बन्ध-व्यवस्थापक साम्परायिक आस्रवका—हेतु नहीं है। (बन्धाऽभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नहीं।

यहाँ 'संक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे है—"आर्त-रौद्र-ध्यानपरिणामः संक्लेशः" ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने भी उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है। 'संक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ("तदभावः विशुद्धिः" इत्यकलंकः)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नहीं है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है—उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पापबन्धके लिये कोई स्थान ही नहीं है। और इसलिये विशुद्धिका आशय यहाँ आर्त-रौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होनेपर ही आत्मा स्वात्मामें—स्वस्वरूपमें—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अंशोंमें क्यों न हो। इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको "आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्" रूपसे उल्लिखित किया है। और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि संक्लेश-परिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अधःपतनका कारण बनती है। इसी लिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते हैं। इसी तरह संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा स्वभावको 'संक्लेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-पर-सुख-दुःख यदि विशु-

द्धिअंगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और संक्लेशाङ्गको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तत्वार्थसूत्रमें, "मिथ्यादर्शनाऽविरतप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय-योगरूपसे बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही हैं, क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोके कारण होनेसे 'संक्लेशाङ्ग' मे शामिल है; जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे सक्लेशाङ्गमे गर्भित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'कायवाड्मनःकर्म योगः', 'स आस्रवः', 'शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य' इन तीन सूत्रोके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभकायादि-व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और सक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा विशुद्धित्व-संक्लेशत्वकी व्यवस्थिति है। संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके है; विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव है और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्व-पर-दुःखकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती है तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओकी तरह, प्राणियों को अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती है; और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती है तो विशुद्ध्यङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोके शुभफलदायक पुद्गलोके सम्बन्धका कारण होती है। जो शुभफलदायक पुद्गल है वे पुण्यकर्म है, जो अशुभफलदायक पुद्गल है वे पापकर्म है, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद

हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप-कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते है।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हो या परस्थ—अपनेको हों या दूसरोंको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण है, विशुद्धिके अंग होनेसे; कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण है, संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण है, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् अवक्तव्यरूप है, सहार्पित-विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे। और विशुद्धि-संक्लेश-का अंग न होने पर दोनों ही बन्धके कारण नहीं है। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं। एकान्त पक्ष सदोष है; जैसाकि ऊपर बतलाया जाचुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता।



महावीर प्रिंटिङ्ग सर्विस, १ अन्सारी रोड, दरियागज, देहली।
मुद्रक—सूर्य प्रिंटिग वर्क्स, देहली।

वीरसेवामंदिरके अत्युपयोगी प्रकाशन

(१) **समाधितन्त्र और इष्टोपदेश**—श्रीपूज्यपादाचार्यकी अध्यात्म-विषयक दो अनूठी कृतिया, सस्कृत-हिन्दी टीकाओसे अलकृत तथा मुख्तार-श्रीकी प्रस्तावनासे भूषित (नया सस्करण) पृष्ठ ३५२, सजिल्द ३)

(२) **जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह**—सस्कृत और प्राकृतके १७१ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियोका मगलाचरण-सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो, डाक्टर ए एन उपाध्याय एम. ए. के 'प्राक्कथन' और प० परमानन्द शास्त्रीकी इतिहास-साहित्य-विषयक परिचयको लिये हुए ११६ पृष्ठ की प्रस्तावनासे भूषित। पृष्ठ ४१६, सजिल्द ४)

(३) **स्वयम्भूस्तोत्र**—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगल-किशोरके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित २)

(४) **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोको जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलकृत, सुन्दर जिल्द-सहित १॥)

(५) **अध्यात्मकमलमार्तण्ड**—पचाध्यायीके कर्ता कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगल-किशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित १॥)

(६) **युक्त्यनुशासन**—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारणकृति, जिसका अभीतक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्रीजुगल-किशोरके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलकृत १।)

(७) **सत्साधु-स्मरण-मगलपाठ**—श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणोका महत्वपूर्ण सग्रह, सयोजक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरके हिन्दी अनुवादादि-सहित ॥)

(८) **सेवाधर्म**—धर्मके मर्मको समझानेवाला मुख्तारश्रीका उत्तम निबन्ध मू० ~)॥ प्रचारके लिये यह तथा अगली पुस्तक ७) प्रतिशत

(९) **परिग्रहका प्रायश्चित्त**—मुख्तारश्रीका अपूर्व निबन्ध, परिशिष्टके रूपमे शिक्षाप्रद सन्तवचनोको लिये हुए ~)॥